एकल पार्टी प्रभुत्व से लोकतंत्र पर होता अत्याचार

कुछ ही समय में देश के कुछ राज्यों में चुनाव होने वाले हैं। यूं तो विधानसभा चुनावों के प्रति लोगों का विशेष आकर्षण नहीं होता है, परंतु इस समय हमारा देश एकल पार्टी के प्रभाव में आता जा रहा है। ऐसे में प्रत्येक राज्य के चुनाव महत्वपूर्ण हो जाते हैं। सामान्यतः भारत में राजनीतिक चाल धीमी गति से बदलती रही है। परंतु वर्तमान संदर्भ में देखें, तो चुनाव जीतने के लिए कुछ भी किया जा रहा है।

अगर हम मीडिया की नजर से देखें, तो लगता है, जैसे भारत फिर से 'सोने की चिड़िया' बनने जा रहा है। परंतु दुर्भाग्यवश भारत की चुनावी राजनीति की दशा से ऐसा कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। व्यवस्थित चुनावों में क्रमशः अव्यवस्था आती जा रही है, और कुछ नहीं तो अराजकता का खतरा मंडरा ही रहा है। स्टॉप बटन का व्यवहार्य विकल्प अभी तक उपलब्ध नहीं है, क्योंकि यह राष्ट्र में राजनीतिक दृष्टिकोण और व्यवहार में व्यापक गिरावट का प्रतिबिंब माना जाता है। हिंसा, धन, शक्ति और सांप्रदायिक दृष्टिकोण अब के चुनाव-नतीजों पर अधिक प्रभाव डालते हैं।

इसका कारण लोकतांत्रिक राजनीति में चुनाव जीतने की प्रचलित धारणा है। कोई भी राजनीतिक दल इसे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए एक अनिवार्य शर्त मानता है। भारत के सत्तावादी दल ने इसे एक कला का रूप दे दिया है, और इस मार्ग पर चलते हुए उसके इरादे पक्के हैं। अन्य दल भी कुछ ऐसा ही करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परंतु उन्हें पूरी सफलता नहीं मिल रही है। दलगत राजनीति की कुरूपता ने लोकतांत्रिक राजनीति की पवित्रता को खत्म कर दिया है।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर इन सबका परिणाम क्या होगा ? चुनावों को एक हथियार की तरह प्रयोग में लाने की प्रवृति पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए। इसे लोकतंत्र को बदनाम करने के लिए उपयोग में लाया जा रहा है। राजनीतिक चर्चाओं के बढ़ते ध्रुवीकरण को देखते हुए, चुनाव एक परंपरा मात्र रह जाएंगे। इनमें नागरिकों के मतों की झलक नहीं रह जाएगी।

फिलहाल बंगाल, असम, तमिलनाडु, केरल और पुदुचेरी में होने वाले चुनावों में दलबदल, हिंसा, सरकारी तंत्र द्वारा भय युक्त वातावरण के निर्माण जैसे पहले आजमाई हुए रणनीतिक दांवपेंचों के ही प्रयोग की आशंका बनी हुई है। इन सबके लिए कोई एक राजनीतिक दल दोषी नही ठहराया जा सकता। परंतु केंद्र के सत्ताधारी दल ने जिस प्रकार के प्रपंच से राज्य सरकारों को अपने चंगुल में लेने की नीति बना ली है, वह निश्चय ही चिंताजनक है।

दूसरी चिंता की बात यह है कि चुनावी फैसलों की विकृति या अप्रत्याशित परिणामों से जूझ रहे लोगों के बीच पैदा हुआ क्रोध और विद्रोह, कुछ अधिक गंभीर रूप में सामने नहीं आ रहा है। सहभागी लोकतंत्र के लिए एक खुले विद्रोह की आवश्यकता है। इसके लिए हमारे मतदाता सुस्त और बीमार दिखाई देते हैं।

अभी भी संभलने का समय है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जब लोकतंत्र को असिद्ध प्रमाणित कर दिया गया। 19वीं और 20वीं शताब्दी में ऐसी अप्रत्याशित परिस्थितियां पैदा हो चुकी हैं। अतः राजनीतिक दलों को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि वर्तमान स्थिति को एक सीमा से परे चुनौती नहीं दी जा सकती। प्रगतिशील राजनीति में विश्वास रखने वाले सभी लोगों को यह सुनिश्चित करना होगा कि स्थिति हाथ से बाहर न निकले।

'द हिंदू' में प्रकाशित एम.के.नारायणन् के लेख पर आधारित। 26 फरवरी, 2021